इकाई 37 आर्थिक विकास की संभावनाएँ : अवलोकन

यह इस पाठ्यक्रम (ई.एच.आई.-04) की अंतिम इकाई है। अब तक आप 16-18वीं शताब्दी के मध्यकालीन भारत के कई पक्षों से परिचित हो चुके हैं। यहाँ हम पिछले खंडों में चर्चित विषयों को दुहराने नहीं जा रहे हैं। वस्तुत: हम यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करने जा रहे हैं। यहाँ हमने इस इकाई को बनी बनाई संरचना में नहीं ढाला है ताकि आप एक लय में पूरे तर्क को समझ सकें। यहाँ हम मध्यकालीन भारत की आर्थिक संरचना के प्रश्न पर विचार करने जा रहे हैं।

एक सवाल अक्सर पूछा जाता है कि ब्रिटिश आक्रमण के पूर्व भारत में औद्योगीकरण और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास क्यों नहीं हुआ? दूसरे शब्दों में, क्या यूरोप की तर्ज पर मुगलकालीन भारत में पूंजीवाद के विकास की संभावनाएँ थीं? इस प्रश्न पर डब्ल्यू. एच. मोरलैंड (**इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, लंदन, 1929, फ्रॉम अकबर टू औरंगजेब, लंदन, 1923**) और ब्रज नारायण (**इंडियन एकोनॉमिक लाइफ, पास्ट एंड प्रेजेंट, लाहौर, 1929**) ने सरसरी तौर पर विचार किया है। हालांकि 1960 के बाद से मौरिस डी. मौरिस (1963), टोरू मतसुइ, विपिन चंद्र और तपन राय चौधरी (1968) ने लगातार इस प्रश्न पर बहस की है। पर वे मुख्य रूप से 19वीं शताब्दी के भारत की बात करते हैं। हमारे लिए मुगल अर्थव्यवस्था की स्थिति पर अपने को केन्द्रित करना अधिक उपयोगी होगा। इस संदर्भ में इरफान हबीब ने काम किया है और मुगलकालीन भारत की अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी विकास की संभावनाओं का पता लगाया है (**अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक इतिहास कांग्रेस, ब्लूमिंग्टन, 1968 में प्रस्तुत और एन्क्वायरी, न्यू सीरीज, वर्ष-111, अंक 3, 1971, पृ. 1-56 में प्रकाशित**)। इसके बाद ए. आई. शि[illegible] ने अपनी कृति "**इंडिया : एकोनॉमिक डेवलपमेंट इन द 16-18 सैंचुरी, मास्को, 1971**" में इस पर विचार किया है। (आप **द इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, वर्ष 1, अंक-2, सितंबर 1974, पृ. 240-46 में प्रकाशित ए. जान कैसर का "द रोल ऑफ ब्रोकर्स इन मेडिवल इंडिया"** का भी अध्ययन कर सकते हैं)।

यहाँ हम इस तथ्य की खोज करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं कि मुगलकाल में पूंजीवादी ढांचा क्यों नही खड़ा हो सका, हमारा मुख्य उद्देश्य यह पता लगाना है कि मुगल अर्थव्यवस्था से पूंजीवादी विकास के संकेत मिलते रहे थे या नहीं ? महत्वपूर्ण बात यह है कि 17वीं शताब्दी में यूरोप पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से नहीं गुजर रहा था। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जाकर पूंजीवाद का उदय आरंभ होने लगा था। इस समय इंग्लैंड में मुख्य रूप से व्यापारिक पूंजीवाद का विकास हो रहा था, औद्योगिक पूंजीवाद का नहीं।

सबसे पहले यह स्पष्ट कर लें कि पूंजीवाद शब्द का तात्पर्य क्या है ? इसके बाद ही हम मुगल अर्थव्यवस्था में इसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति की बात कर सकते हैं। आइए, आरंभिक पूंजीवाद की महत्वपूर्ण विशेषताओं को सूचीबद्ध किया जाए :

i) उत्पादन-प्रक्रिया पर पूंजी का नियंत्रण;

ii) मुद्रा या बाजार संबंध;

iii) "वस्तुओं की अतिशय जमावट" (कार्ल मार्क्स); और

iv) उत्पादन तकनीक में नयापन।

इस बात में कोई शक नहीं है कि मध्यकालीन भारत में व्यापारियों के पास काफी पूंजी थी। यूरोपीय दस्तावेजों में उनके धन का आकलन किया गया है। बताया जाता है कि 1663 ई. में सूरत के कुछ व्यापारियों के पास 50-60 लाख रुपये से ज्यादा धन राशि थी। सूरत के मुल्ला अब्दुल गफूर के पास 80 लाख रुपये से भी ज्यादा की सम्पदा थी। उसके पास बीस जहाज थे (प्रत्येक का वजन 300 और 800 टन के बीच था)। अंग्रेज कारखानेदार बताते हैं कि उसका व्यापारिक लेन-देन कम्पनी से किसी भी प्रकार कम नहीं था। सूरत के अन्य व्यापारी के पास कहा जाता है कि 80 लाख रुपये से ज्यादा की सम्पदा थी। मैनरिक (1630) आगरा के व्यापारियों की अपार सम्पत्ति देखकर चकित था, उसने कुछ व्यापारियों के घर में "अनाज की तरह भरा" हुआ धन देखा था।

इसके अलावा व्यापारी अपने धन को व्यापार में लगाते रहते थे। गैर-व्यापारिक समुदायों का धन भी व्यापारिक गतिविधियों में लगाया जाता था। मुगल सम्राट, राजघराने की महिलाएं, राजकुमार और कुलीन अपना धन व्यापार में लगाते थे और कइयों के पास अपने जहाज भी थे। यह सही है कि उनका निवेश व्यापारियों के मुकाबले कम था पर महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी भागीदारी से "मद्रा बाजार" का आकार अपने ढंग से बढ़ा।

मुगलकालीन भारत में ऋण और बैंकिंग व्यवस्था पूर्ण विकसित थी। आप सर्राफ की भूमिका और कार्यों के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। सर्राफ एक प्रकार का बैंकर था जो मुद्रा का लेन-देन करता था और हुंडी नामक विनिमय पत्र जारी करता था। (खंड 6 इकाई 24)। सर्राफ व्यापारियों की हुंडियों पर कमीशन लेता था और इस प्रकार वाणिज्य के लिए उपलब्ध मुद्रा में विस्तार होता था। इसके अलावा मार्ग (थल और जल दोनों) में माल के बीमे से सम्बद्ध वित्तीय प्रथा भी काफी विकसित थी। इसके अतिरिक्त ऋण दाता संस्थाएँ भी विकसित थीं जो सूद पर और बंधक रखकर ऋण दिया करती थीं। इस प्रकार 17वीं और 18वीं शताब्दियों के दौरान आधारभूत वित्तीय और आर्थिक संस्थाएँ स्पष्ट रूप में मौजूद थीं। ये संस्थाएँ मध्यकालीन अर्थव्यवस्था को पूंजीवाद के मार्ग पर ले जा सकती थीं।

इसके अलावा वस्तुओं मसलन कपड़ा, शोरा, नील आदि का उत्पादन बड़े पैमाने पर हो रहा था। दलाली की संस्था के माध्यम से भारतीय और विदेशी व्यापारियों तक माल आसानी से पहुँच जाया करता था। मध्यकालीन तकनीकी सीमाओं को देखते हुए यातायात के साधन भी अच्छे खासे विकसित थे। उत्पादन प्रक्रिया पर पूंजी के वर्चस्व और नियंत्रण से ही सही अर्थों में पूंजीवादी संबंधों का विकास हो सकता है। औद्योगिक और व्यापारिक पूंजी में यही मुख्य अंतर है। व्यापारिक पूंजी का उत्पादन से सीधा संबंध नहीं होता है। दूसरे शब्दों में व्यापारियों का उत्पादन पर नियंत्रण नहीं होता था। इसमें उत्पादन का कार्य स्वतंत्र रूप से कारीगर स्वयं करता था। वह स्वयं कच्चा माल खरीदता था, अपने घर पर काम करता था (घरेलू उत्पादन व्यवस्था), माल तैयार करता था और उस माल को बाजार में जाकर बेचता था। पूंजीवाद में ये सारी विशेषताएँ समाप्त हो जाती हैं और स्वतंत्र कारीगर एक मजदूर बनकर रह जाता है। धीरे-धीरे औद्योगिक पूंजी का उत्पादन के साधनों पर अधिकार हो गया और इसने सम्पूर्ण व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। पर व्यापारिक से औद्योगिक पूंजीवाद में परिवर्तन अचानक एकाएक नहीं हो गया। व्यापारिक पूंजीवाद में ही एक संक्रमण काल आया। इसे "पुटिंग आउट" व्यवस्था कहा जाता है (आपने इसके बारे में खंड 6 की इकाई 22 में पढ़ा होगा)।

इस संक्रमण काल के चरित्र तथा विस्तार को समझना आवश्यक है। इसके अंतर्गत धीरे-धीरे उत्पादन तथा कारीगरों पर पूंजी का नियंत्रण हो गया। भारत में 17वीं शताब्दी से भी पहले से सीमित पैमाने पर इस प्रकार की व्यवस्था मौजूद थी जिसे ददनी के नाम से जाना जाता था। इसी समय दलालों का जन्म हुआ क्योंकि उन्हीं के माध्यम से व्यापारी प्राथमिक उत्पादकर्ता तक अग्रिम राशि पहुंचाते थे। आइए पहले "पुटिंग आउट व्यवस्था" की आर्थिक संरचना निर्धारित कर लें। 17वीं शताब्दी के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था माल बेचने वाले (उत्पादन कर्ताओं) के पक्ष में थी। मांग की कोई कमी नहीं थी और बाजार में खरीददारों के बीच प्रतियोगिता लगी रहती थी। अत: व्यापारियों की दृष्टि में, खासकर जो विदेशी व्यापार में लगे हुए थे, "पुटिंग आउट व्यवस्था" के जरिए वे अपने प्रतिद्वंद्वियों को दूर रखते थे और अपनी मनपसंद चीज जरूरत के हिसाब से प्राप्त करते थे, दर पहले से तय होती थी। दूसरी तरफ प्राथमिक उत्पादक को अग्रिम राशि मिल जाती थी। उसे काफी मात्रा में उत्पादन करना होता था और वह इस राशि का उपयोग कच्चा माल खरीदने के लिए करता था। (दूसरे चरण में कच्चे माल की भी आपूर्ति की गई)। इस प्रकार "पुटिंग आउट व्यवस्था" के कारण आर्थिक दृष्टि से व्यापारियों और कारीगरों दोनों का भला हुआ। इस संदर्भ में, उत्पादन प्रक्रिया में "पुटिंग आउट व्यवस्था" के जरिए व्यापारिक पूंजी के प्रवेश को समझने के लिए यह जानना जरूरी होगा कि क्या कारीगरों को व्यापारी अग्रिम राशि या कच्चा माल (या दोनों) और उत्पादन के औजार भी उपलब्ध कराते थे। कपड़ा निर्माण उद्योग में इस बात के काफी प्रमाण हैं कि नकद रूप में अग्रिम राशि दी जाती थी। अत: यह कहा जा सकता है कि उस समय अग्रिम के रूप में नगद देने का प्रावधान था। पर कच्चा माल देने की प्रथा कम थी और उत्पादन के औजार उपलब्ध कराने की प्रथा लगभग नहीं के बराबर थी।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि बुनकरों को कच्चा माल (धागा) देने की प्रथा इस कारण चल पड़ी क्योंकि यह समझा जाता था कि नकदी देने पर भी बुनकर अक्सर घटिया कोटि का माल लगाया करते

थे। ऐसा लगता है कि जब बुनकर स्वयं धागा या कच्चा रेशम खरीदता था तो उसे कुछ फायदा हो जाता था और व्यापारीगण उसकी गुणवत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाया करते थे। अत: यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कारीगर व्यापारियों द्वारा कच्चे माल की आपूर्ति पसंद नहीं करते होंगे क्योंकि इससे उनका मुनाफा घट जाता होगा। इसी प्रवृत्ति के कारण इस प्रथा यानि कच्चे माल की आपूर्ति संबंधी कोई सटीक आंकड़ा नहीं प्राप्त होता है।

इस प्रकार "पुटिंग आउट व्यवस्था" यहां नगदी अग्रिम देने तक सीमित थी। 17वीं शताब्दी के अंतिम दशकों के बंगाल पर टिप्पणी करते हुए स्ट्रेनशम मास्टर कहते हैं :

> ढाका में मलमल, सूती वस्त्र आदि के लिए अग्रिम राशि देने का सही मौसम जनवरी का महीना होता है। इनकी आपूर्ति के लिए दलाल या मध्यस्थ चार महीने का समय लेते हैं और छह महीने के भीतर बुनकरों से अपरिष्कृत भूरे रंग का कपड़ा लाते हैं।
>
> ये दलाल पैसा लेकर पैकारों को देते हैं जो इसे एक शहर से दूसरे शहर ले जाकर कारीगरों तक पहुंचाता है . . . ।

यहां मास्टर धागे की आपूर्ति की बिल्कुल चर्चा नहीं करता है। अन्य स्रोत भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं। हमें कच्चे रेशम की आपूर्ति के संबंध में इंग्लिश फैक्टरी के दस्तावेजों में एक संदर्भ का उल्लेख मिलता है। यहां यह कारण बताया गया है कि गरीबी के कारण बुनकर अपेक्षित गुणवत्ता का रेशम नहीं खरीद पाते थे।

गुजरात में यह प्रथा (अग्रिम नगद राशि देना) बंगाल से ज्यादा व्यापक पैमाने पर फैली हुई थी। पर यहां भी यह प्रथा विकसित "पुटिंग आउट व्यवस्था" में विकसित न हो सकी। यहां तक कि शिचेरोव भी जो पूंजीवादी संबंधों के विकास का प्रबल समर्थक है, कारीगर को दिए जाने वाले कच्चे माल यानि धागे की आपूर्ति से संबंधित आंकड़े की कमी से स्तब्ध हो जाता है। वह स्वयं बताता है कि ग्रामीण इलाकों में "कच्चे माल की आपूर्ति की समस्या कभी नहीं रही क्योंकि कपास की खेती बृहत् पैमाने पर और कुछ इलाकों मे हर जगह होती थी, यह भारत की खास आर्थिक भौगोलिक विशेषता थी, कपास सभी खेतों में उपजाया जा सकता था या नजदीक के बाजार से खरीदा जा सकता था।" आगे पुन: वे बताते हैं कि "कताई का काम केवल बुनकर ही अपने घरों में नहीं करते थे बल्कि आम किसान भी यह काम करता था, इस प्रकार बुनकरों को लगातार और बड़ी मात्रा में कच्चा माल मिलता रहता था।" अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 17वीं शताब्दी के दौरान "पुटिंग आउट व्यवस्था" के तहत अग्रिम नगद राशि देने का प्रावधान था।

अब हम उत्पादन के संबंधों में बदलाव लाने में नगद अग्रिम की प्रथा की भूमिका की चर्चा कर सकते हैं। व्यापारी कारीगरों को अग्रिम राशि दिया करते थे पर वे उत्पादन प्रक्रिया में कोई खास हस्तक्षेप नहीं करते थे और इससे उत्पादन के संबंधों में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ। यह सही है कि एक अर्थ में उत्पादनकर्ता व्यापारी से अपने वादे से "बंधा" होता था, उसे खास समय में, नियत दर पर, खास मात्रा में और व्यापारी के आदेश के मुताबिक उत्पादन करना पड़ता था। पर कारीगर अभी भी उत्पादन के औजारों का मालिक था और कच्चा माल भी स्वयं उपलब्ध करता था। अंतर इतना ही हुआ कि वह अपना उत्पाद अग्रिम राशि देने वाले को ही बेच सकता था। व्यापारियों से इस प्रकार का आदेश प्राप्त करने में उसकी कोई विशेष आर्थिक मजबूरी (गरीबी के अलावा) नहीं थी। दूसरी तरफ व्यापारियों ने भी इसे स्वीकार कराने के लिए अन्य हथकंडे नहीं अपनाये। वस्तुत: व्यापारियों को अपने हित में कारीगरों से अग्रिम राशि लेने का अनुरोध करना पड़ता था। उदाहरण स्वरूप 1665 में अंग्रेज कारखानेदार सूरत से लिखता है :

डच आदि सूती कपड़ा खरीद लिया करते थे। अत: हमें कारीगरों से प्रार्थना करनी पड़ती थी और हम बुनकरों को जो कुछ भी बन पड़ता था देते थे। हम उन्हें 8-10 महीने पहले राशि दे दिया करते थे। वे हमसे बस इसी कारण जुड़े हुए थे।

यहां बुनकरों द्वारा अग्रिम राशि स्वीकार किए जाने पर व्यापारी अपने को उपकृत मानते थे। पर यह "बंधन" भी बहुत मजबूत नहीं था। 1647 में थाट्टा स्थित अंग्रेज कारखानेदार ने सूरत फैक्ट्री को लिखा :

> इसके अलावा ये बुनकर अपने वादे के पक्के नहीं हैं, हम उन्हें अग्रिम राशि देते हैं, यह राशि हम वर्ष के आरंभ में देते हैं जब उन्हें पैसे की बहुत जरूरत होती है पर जैसे ही उनके पास कोई फेरी वाला कपड़ा व्यापारी या **पैकार** खरीददारी के लिए पहुंच जाता था वे हमारा साथ छोड़कर उनके लिए काम करने लगते थे, वह अग्रिम राशि भी नहीं देते थे, हमारे कपड़े बुनने में उन्हें अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है और उनके कपड़े आसानी से बुन लिए जाते हैं।

1622 ई. में वे भड़ौंच से फिर लिखते हैं : "हमें अग्रिम राशि काफी पहले देनी होती थी पर तैयार माल का मिलना बुनकर और दलाल की मर्जी पर आधारित होता था"।

ऊपर कही गई बात असंगत है क्योंकि 17वीं शताब्दी के दौरान व्यापारी और उत्पादक के बीच के संबंध पर विचार करते हुए शिचेरोव "आर्थिक बंधन", "आर्थिक निर्भरता", "शारीरिक प्रताड़ना" और "व्यापारी एकाधिकार" की बात करता है। अब कारीगर स्वतंत्र उत्पादक न रहकर "ठेके का उत्पादक" बन गया था। यह सही है कि वह अपने उत्पाद का मालिक नहीं रहा, पर अभी भी उसे कच्चे माल और उत्पादन के औजार के स्वामित्व से अलग नहीं किया जा सकता था।

कारीगर जब तक घरेलू उत्पादन प्रक्रिया से जुड़े थे तब तक उत्पादन के सही अर्थ में पूंजीवादी संबंध विकसित नहीं हो सकते थे। अग्रिम राशि लेकर उत्पादन करने की प्रथा में भी उत्पादक का औजार और कच्चे माल पर अधिकार बना हुआ था। इससे पता चलता है कि श्रम पर व्यापारिक पूंजी की पकड़ बहुत कमजोर थी। जब तक इनसे कारीगरों का अलगाव नहीं होता और ये एक साथ एक छत के नीचे बैठकर किसी एक वरिष्ठ पूंजीपति के निर्देश पर बड़ी संख्या में उत्पादन नहीं करते तब तक पूंजीवादी प्रवृत्ति का विकास नहीं होता। पर इस स्थिति में पुटिंग आउट व्यवस्था तथा दलाली व्यवस्था अंततः लुप्त हो सकती है और इसका स्थान उत्पादन के नए संबंध लेते हैं।

दूसरी तरफ हमें 17वीं शताब्दी में अधिशेष मूल्य अर्जित करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है जिसमें मजदूरी कम करके ज्यादा काम लेकर कुछ श्रम समय की बचत हो सके। अगर व्यापारी गैर-आर्थिक हथकंडे अपनाते तो घरेलू व्यवस्था के अंतर्गत कार्य कर रहे इन कारीगरों का इतने लंबे समय तक उत्पादन के साधनों पर अधिकार न रहता। औजारों को बनाना या खरीदना आसान और सस्ता था और किसी प्रकार के तकनीकी परिवर्तन न होने से वे न मंहगे हुए और न कारीगरों की पहुंच के बाहर थे और इस प्रकार इन पर उनका अधिकार बना रहा। यहां मार्क्स के कथन का उल्लेख प्रासंगिक होगा :

> इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था के विकास की प्रक्रिया में उत्पादन के साधनों पर मजदूर का अधिकार छीन लिया जाता है, इस प्रक्रिया द्वारा एक तरफ जीवनयापन के सामाजिक साधन बदल जाते हैं और उत्पादन में पूंजी का वर्चस्व हो जाता है, दूसरी तरफ उत्पादक मजदूर बन जाता है।

यहां हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि व्यापारिक पूंजी का उत्पादन के संगठन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। "पुटिंग आउट व्यवस्था" ने उत्पादक के "स्वतंत्र" अस्तित्व को "ठेके के मजदूर" में बदल दिया। यह उसे बाजार से भी काट देता है। यह प्रक्रिया स्वयं इस व्यवस्था में अंतर्निहित होती है। इसके अलावा बंगाल और गुजरात में विदेशी व्यापारियों द्वारा स्थापित कुछ कारखानों का हवाला मिलता है तथा कपड़ों की रंगाई और शोरे आदि के शोधन के लिए स्थापित इकाइयों का वर्णन 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिलता है। यह परिवर्तन की दशा में एक कदम था। पर ये परिवर्तन इतने आधारभूत और व्यापक नहीं थे कि सही अर्थों में पूंजीवादी संबंधों का विकास कर सके। असल में ये सभी परिवर्तन उत्पादन की मौजूदा व्यवस्था के तहत ही हो रहे थे जहां उत्पादन की प्रक्रिया पर व्यापारिक पूंजी की पकड़ काफी कमजोर थी। इस प्रकार यह कहना गलत होगा कि भारत में 17वीं शताब्दी के दौरान व्यापारिक पूंजी ने "उत्पादन के परम्परागत सूत्रों" को तोड़ दिया था। यह बहुत छोटे भाग तक सीमित था और इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

यह सवाल अपने आप में महत्वपूर्ण है कि "पुटिंग आउट व्यवस्था" के जरिए क्रियाशील होने के बावजूद व्यापारिक पूंजी श्रम पर नियंत्रण क्यों नहीं स्थापित कर सकी ? इरफान हबीब ने परीक्षण करके बताया है कि व्यापारिक पूंजी के विकास का अभाव इस असफलता का कारण नहीं है। हम पहले ही बता चुके हैं

कि यहां मांग का अभाव नहीं था और बाजार प्रतियोगी खरीददारों से भरा पड़ा था और उत्पादक लाभ की स्थिति में थे, कारीगरों पर कोई विशेष आर्थिक दबाव नहीं था और न ही उन्हें गैर आर्थिक तरीकों से प्रताड़ित किया जा रहा था और वह अपनी मर्जी से सौदा करता था। इसके अलावा "पुटिंग आउट व्यवस्था" के तहत कार्य कर रहे "ठेके के मजदूरों" के अलावा कारीगर स्वतंत्र रूप से भी उत्पादन कर रहे थे। ऐसे कारीगरों की संख्या ज्यादा नहीं तो बराबर अवश्य थी। इसके अलावा कारीगर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाते थे और अपना पेशा भी बदल लेते थे अत: गरीबी के दबाव में वे किसी "आर्थिक बंधन" या "निर्भरता" के जाल में नहीं फंसते थे। शिचेरोव ने कारीगरों की गरीबी पर बहुत जोर डाला है। अंतत: जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि दलाल और व्यापारी के हित हमेशा एक से नहीं होते। दलाल येन केन प्रकारेण गलत ढंग से धन कमाने की युक्ति लगाता रहता था, उत्पादक और व्यापारी दोनों इसके शिकार बनते थे। अत: हमेशा व्यापारिक पूंजी के हित में काम नहीं करता था, कभी-कभी वह कारीगरों से भी गठबंधन किया करता था।

ये सभी तथ्य वस्तुत: मार्क्स के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं :

> व्यापारिक पूंजी के रूप में पूंजी के स्वतंत्र और प्रबल विकास में उत्पादन पूंजी के अधीन नहीं होता है, और इस प्रकार उत्पादन के नवीन तरीके के आधार पर विकसित हो रही पूंजी से उसका अस्तित्व अलग होता है। इस प्रकार व्यापारिक पूंजी का स्वतंत्र विकास समाज के आम आर्थिक विकास से मेल नहीं खाता है।

संभवत: उत्पादन प्रक्रिया से सबसे नजदीक से जुड़े कुछ व्यापारियों, खासकर "दलाल ठेकेदारों" (मध्यस्थ व्यापारियों) के लिए उत्पादक उद्यम का विकास करना कठिन काम नहीं होता। मुगल सम्राटों, कुलीनों और कुछ यूरोपीय कम्पनियों के कारखाने इसके उदाहरण हैं। पर तकनीकी में आधारभूत बदलाव के अभाव में केवल उत्पादन के संगठन में परिवर्तन से कोई मूलभूत परिवर्तन न हो सका।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

इरफान हबीब : **मुगलकालीन भारत की कृषि व्यवस्था (1556-1707)**

इरफान हबीब : **मध्यकालीन भारत (भाग 1)**

जी. डी. शर्मा : **राजपूत राज्य व्यवस्था**

अतहर अली : **मुगल अमीर वर्ग**

सतीश चन्द्र : **पार्टी एण्ड पॉलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट (1707-1740)** (हिन्दी-अनुवाद)

मुज़फ्फर आलम : **द क्राइसिस ऑफ एम्पायर इन मुगल नार्थ इंडिया : अवध एण्ड पंजाब (1707-1748)**

चेतन सिंह : **पंजाब इन द 17th सैंचुरी**

रिचर्ड बारनेट : **नॉर्थ इंडिया बिटवीन द एम्पायर्स**